चतुर्थ अध्याय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इतिहास लेखन और फुटकल कवि की अवधारणा

हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की परम्परा अपने वर्तमान समय से लगभग डेढ़ सौ वर्षों से अधिक समय से चली आ रही है। इस अवधि से पहले के प्रयासों में कविताओं के कुछ संकलन और कविवृत्त संग्रह आदि ही लिखे गए जिनके आधार पर ही इतिहास ग्रंथ तैयार हुए जिसमें हिंदी साहित्य का इतिहास, आलोचनात्मक इतिहास, आधा इतिहास, दूसरा इतिहास तथा वैज्ञानिक इतिहास आदि हैं। इस लेखन-परम्परा में गार्सा द तासी, शिवसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबंधु आदि का योगदान काफी महत्वपूर्ण रहा है। इसी क्रम में हिंदी साहित्य का व्यवस्थित इतिहास आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा। उन्होंने पहली बार जनता की चित्तवृत्तियों के आलोक में साहित्यिक धारणाओं का विवेचन-विश्लेषण किया। आचार्य शुक्ल से पहले इतिहास-लेखन में कोई भी ग्रंथ इतना व्यवस्थित रूप ग्रहण नहीं कर पाया। हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास गार्सा द तासी कृत 'इस्तार द ला लितरेत्युर एन्दुई ए एन्दुस्तानी' इतिहास-लेखन का पहला प्रयास था किन्तु इसमें न काल-विवेचन और न ही युग-प्रवृत्तियों का विश्लेषण था। लेखक ने सभी साहित्यिक परमपराओं को आख्यान, आदिकाल, इतिहास और काव्य नामक चार खण्डों में बांटा है और वर्णानुक्रम पद्धति के अनुसार ही कवियों का वर्णन किया है। तासी के ग्रंथ की कुछ बातों का अनुसरण बाद के साहित्येतिहासकारों ने किया है। पहली बार इन्होंने कवियों की जाति, गोत्र, उपनाम व स्थान आदि का वर्णन किया था जो बाद के ग्रंथों में भी हमें देखने को मिलता है। भले ही आचार्य शुक्ल ने अपने ग्रंथ में कवियों के गोत्र, जाति, स्थान आदि का वर्णन बिना उनका उल्लेख किए किया हो लेकिन ये सब तासी के ग्रंथ में पहले ही नजर आता है जैसे, "कंडूर के एक अत्यंत पवित्र

ब्राह्मण हैं."[1] (कान्हा पाठक नामक कवि के बारे में) । तासी का यह ग्रंथ हिंदी भाषा में न होने के कारण साहित्य इतिहास के अध्ययन में इतना उपयोगी नहीं हो पाया । साहित्येतिहास लेखन में इस प्रयास को परम्परा का रूप देने में अगला प्रयास शिवसिंह सेंगर द्वारा किया गया । इन्होंने हिंदी साहित्य का हिंदी में पहला इतिहास-ग्रंथ 'शिवसिंह सरोज' लिखा । भले ही परवर्ती इतिहासकारों ने इसे 'कविवृत्त संग्रह' का नाम दिया है लेकिन ये भी सत्य है कि आगामी इतिहास-लेखन के प्रयास इस ग्रंथ से ही सुलभ हो पाए हैं। 'सरोज' के दो खंड हैं। एक में वर्णक्रम में कवियों के काव्योद्धरण हैं और दूसरे में जीवन-चरित। लेखक ने पुंड(पुष्प कवि) सं. 880 से बाबू हरिश्चंद्र (सं. 1934) तक के हिंदी कवियों का वर्णन ग्रंथ में किया है। पहली बार किसी ग्रंथ में 1003 कवियों का वर्णन हुआ था। वस्तुतः 'सरोज' हिंदी साहित्येतिहास का प्रस्थान ग्रंथ है। आचार्य शुक्ल ने भी अपने ग्रंथ के आरम्भ में ही 'सरोज' को वृत्त-संग्रह माना है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास लेखन में उनके लिए अगला आधार जार्ज ग्रियर्सन कृत 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लितरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' नामक ग्रंथ रहा। इस ग्रंथ में 852 कवि-लेखकों की नामावली देते हुए उनका कालक्रमानुसार विवेचन है। हिंदी का यह अंग्रेजी में लिखा पहला इतिहास ग्रंथ है। यह ग्रंथ अंग्रेजी में होने के कारण हिंदी पाठकों के लिए उपयोगी न हो सका लेकिन यह साहित्येतिहास लेखन में अलग तरह का प्रयास रहा है। भले ही आचार्य शुक्ल ने इसे कवि-वृत्त-संग्रह कहा हो, "उसके पीछे सन 1889 में डॉ. (अब सर) ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ नार्दन हिंदुस्तान' के नाम से एक वैसा ही बड़ा कवि-वृत्त-संग्रह निकाला।"[2] लेकिन शुक्ल जी का काल-विभाजन और युग-प्रवृत्तियों का विवेचन इसी ग्रंथ से प्रेरित हो सकता है । नलिन विलोचन शर्मा ने तो विधेयवादी साहित्येतिहास का प्रवर्त्तक ही ग्रियर्सन को माना है, "वस्तुतः इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि हिंदी के विधेयवादी साहित्येतिहास के आद्य प्रवर्त्तक शुक्ल जी नहीं, प्रत्युत ग्रियर्सन हैं।"[3] 'सरोज'

के 'उ' और 'वि' को लेकर सबसे ज्यादा असमंजस में ग्रियर्सन अपने ग्रंथ में दिखते हैं जो 'सरोज' की महत्ता को बढ़ा देता है। ग्रियर्सन ने ग्रंथ में सभी कालों की तो नहीं अपितु कुछ कालों की सामान्य प्रवृत्तियों का वर्णन भी किया है। इसके बाद के इतिहास-लेखन में सबसे महत्वपूर्ण नाम मिश्रबंधुओं का है। उन्होंने अपनी खोज एवं परिश्रम के सहारे 5000 कवियों का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है। भले ही आचार्य शुक्ल ने इसे भी कविवृत्त- संग्रह ही माना हो लेकिन उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कवियों के परिचयात्मक विवरण उन्होंने प्राय: 'मिश्रबंधु विनोद' से ही लिए हैं। मिश्रबंधुओं ने भले ही साहित्यिक इतिहास न लिखा हो किन्तु साहित्यिक इतिहास-विषय सम्बन्धी उनके विचार इस सम्बन्ध में उनकी सजगता के प्रमाण हैं, " ...इतिहास ग्रंथ में छोटे-बड़े सभी कवियों एवं लेखकों को स्थान नहीं मिल सकता। उसमें भाषा सम्बन्धी गुणों एवं परिवर्तनों पर जो मुख्य रूप से ध्यान देना पड़ेगा, कवियों पर गौण रूप से; किन्तु हमनें कवियों पर भी पूरा ध्यान रखा है। इस कारण यह ग्रंथ इतिहास से इतर बातों का भी कथन करता है। हमने इसमें इतिहास सम्बन्धी सभी विषयों एवं गुणों को लाने का यथासाध्य पूर्ण प्रयत्न किया, परन्तु जिन बातों का इतिहास में होना आवश्यक है, उन्हें भी ग्रंथ से नहीं हटाया।"[4] मिश्रबंधुओं का इतिहास-लेखन में यह श्रेय है कि 'हिंदी साहित्य का इतिहास' इस नाम के लिए प्रच्छन्न मोह होते हुए भी उन्होंने इसका प्रत्यक्ष व्यवहार उस ग्रंथ के लिए नहीं किया तथा इसे 'मिश्रबंधु विनोद' कहकर ही संतोष कर लिया। 'विनोद' के पश्चात् इतिहास लेखन परम्परा में यह काम इतना कठिन नहीं रह गया क्योंकि हिंदी साहित्य के अधिकतम कवियों का जिक्र तथा विवेचन 'मिश्रबंधु विनोद' पहले ही हो चुका था। आचार्य शुक्ल के ग्रंथ की बहुत सारी बातें इस ग्रंथ से मिलती-जुलती हैं।

आचार्य रामचद्र शुक्ल के साहित्येतिहास लेखन तक हिंदी साहित्य की बहुत सारी जानकारी इकट्ठी की जा चुकी थी। 'मिश्रबंधु विनोद' में अधिकतम कवियों का जिक्र आ चुका था। इन सभी अव्यवस्थित सामग्रियों को व्यवस्थित रूप आचार्य शुक्ल ने दिया। उन्होंने हिंदी का पहला व्यवस्थित इतिहास हिंदी

शब्द सागर की विशद भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया। इन मूल इतिहास ग्रंथों के अलावा आचार्य शुक्ल ने काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित अनेक खोज रिपोर्टों का आवश्यकता अनुसार उपयोग किया। बहुत सारी आधारभूत सामग्री काफी नहीं थी, जनश्रुतियों से उन्हें परहेज था और प्रामाणिकता के परीक्षण के लिए पर्याप्त समय भी आचार्य शुक्ल के पास नहीं था जिसे वे अपने इतिहास-ग्रन्थ में स्पष्ट भी कर चुके हैं। उन्होंने अपने इतिहास-ग्रंथ के पहले संस्करण के वक्तव्य में यह स्पष्ट भी किया है, "पाँच या छ बर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिए मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे जिनमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिंदी साहित्य के कालविभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढ़ांचा खड़ा किया था.....साहित्य का इतिहास लिखने के लिए जितनी अधिक सामग्री मैं जरूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर इकट्ठी न हो सकी पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान रखकर कार्य पूरा किया गया।"[5] उनके इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता अपुष्ट नामों या कृतियों का निषेध है। आचार्य शुक्ल से पूर्व 'विनोद' में पाँच हजार रचनाकारों का वर्णन हुआ है जिसमें जनश्रुतियों पर आधारित भी अनेक कवि हैं लेकिन उन्होंने उन सभी कवियों में से प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त जानकारी के आधार पर ज्ञात कवियों को ही अपने इतिहास ग्रंथ में जगह दी है। उन्होंने हिंदी के आरम्भ को लेकर भी कोई बौद्धिक कसरत नहीं की जो उनकी वस्तुनिष्ठ इतिहास-दृष्टि का अनोखा उदाहरण भी है।

इस साहित्येतिहास ग्रंथ में उन्होंने इतिहास-दर्शन जैसे अनुशासन की स्थापना की। उन्होंने पहली बार कहा कि, 'इतिहास न कविकीर्तन है, न जीवनीपरक ग्रंथ।'आचार्य शुक्ल का इतिहास ऐतिहासिक दस्तावेजों तथा विवरण संग्रह की बजाय विवेचन को ज्यादा महत्त्व देता है। वे रुचिकर प्रसंगों पर सघन चिंतन करते हुए दिखते हैं जिसके कारण ही उन्होंने तुलसी, सूर, जायसी आदि पर निर्णायक मत दिए हैं। डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित लिखते हैं, "शुक्ल जी का इतिहास नई-नई खोजों की और सचेष्ट रहा है। जायसी

तो इनके ही आविष्कार हैं। भक्तिकाल को 'जनप्रवृत्ति का प्रवाह' कहना और काल को उसका प्रवर्तक मानना उनकी विशिष्ट खोज और नयी अर्थापत्ति है।"[6] आचार्य शुक्ल कल्पना और भावुकता को कवि का वास्तविक गुण मानते थे। उन्होंने चिंतामणि में लिखा भी है, "सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।"[7]

4.1. आचार्य शुक्ल की विचार एवं तर्क पद्धति :

हिंदी साहित्य के पहले वैज्ञानिक इतिहास तथा व्यवस्थित काव्यशास्त्रीय चिन्तन का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को दिया जाता है। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' उच्च कक्षाओं में हिंदी पढ़ने वाले छात्रों के लाभ के लिए लिखा जिसके पीछे साहित्य की परम्परा के निर्माण तथा उसके अंतर्गत आने वाली रचनाशीलता को जनता की चित्तवृत्तियों से जोड़कर उसके सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक प्रसंगों को परखने, साहित्य के परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तनों के साथ रखकर उसका विवेचन, विश्लेषण करने का प्रयत्न किया। आचार्य के इतिहास सम्बन्धी मतों की कालिंगवुड से तुलना करते हुए शिवकुमार मिश्र लिखते हैं, "कालिंगवुड ने किसी भी सही इतिहास को विचार का इतिहास कहा है। उनके अनुसार इतिहास इतिहासकार के मन में उन विचारों का पुनर्निर्माण होता है जिनका इतिहास वह अध्ययन कर रहा होता है। आचार्य शुक्ल कालिंगवुड के इन विचारों से मिलती-जुलती इतिहास-सम्बन्धी अपनी अवधारणा के तहत जब यह कहते हैं 'इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तब से उसके साहित्य के विचार श्रृंखलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे' तब वे वस्तुत: इतिहास के बारे में अपनी सही तथा वैज्ञानिक सोच को ही सामने रखते हैं। यों भी उनके पहले सामग्री के रूप में जो कुछ सामने आया था वह और जो भी हो इतिहास तो नहीं था।"[8] यहाँ लेखक ने शुक्लजी से पूर्ववर्ती कविवृत्त संग्रहों जैसे

'मिश्रबंधु विनोद', 'शिवसिंह सरोज' आदि के लिए कहा है कि सारे रचनाकाल को आदि, मध्य, पूर्व, तथा उत्तर आदि खण्डों में आँख बंद कर बाँट देना तथा इसपर भी ध्यान न देना कि उसके अंदर क्या है? क्या नहीं है? किसी भी वृत्तसंग्रह को इतिहास नहीं बना देता है। वे साहित्य की उस परंपरा का सही इतिहास लिखना चाहते थे जो किसी देश व भाषा की जनता की चित्तवृत्तियों का सही प्रतिबिम्ब बनकर सामने आये। उनके लिए इतिहास का अर्थ तथ्यों और घटनाओं की खोज भर नहीं था, "शुक्लजी के लिए इतिहास बोध का अर्थ स्थिति का सत्यापन नहीं, स्थिति और गति के बीच अंतर्क्रिया की पहचान और आंकलन था।"[9] उनके इतिहास बोध का पता हमें उन्हीं के शब्दों में पता चलता है, "क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढांचा खड़ा करना था, न कि कवि कीर्तन करना।"[10] आचार्य शुक्ल ने बल प्राप्त तथ्यों के सत्यापन पर उनकी प्रामाणिकता की छानबीन पर नहीं बल्कि साहित्य के स्वरुप में आने वाले परिवर्तनों पर दिया है। उन्होंने तथ्यों से सम्बंधित सामग्री को 'आवश्यक उपादान' के रूप में रखकर अपना कार्य पूरा किया है। उनकी वास्तविकता की खोज में भी एक सीमा से आगे नहीं बढ़ते, "आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जब 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विचार कर रहे थे तो घटना-तिथि सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर किसी साहित्यिक रचना को अप्रामाणिक मान लेने का विरोध उन्होंने भी किया। ऐतिहासिक चरित्रों से सम्बद्ध काव्यों की रचना करते समय 'फैक्ट' से साथ 'फिक्शन' के मेल को उन्होंने लेखकीय अधिकार के रूप में मान्यता दी।"[11]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ पर बाद के विद्वानों ने उनके द्वारा किये काल-विभाजन, नामकरण तथा इस काल-विभाजन के आधार को लेकर काफी चर्चा की है। शुक्लजी जिसे काल-विभाजन का आधार बनाते हैं वह है, "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रहीं हैं, उन सबके सम्यक निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए सुसंगत काल-विभाजन के बिना

साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था ।"[12] यहाँ शिक्षित जनता की प्रवृत्ति को आधार बना लेने के कारण आचार्य शुक्ल के इस कथन पर काफी विवाद हुआ । शुक्लजी ने शिष्ट और लोक साहित्य का भेद ही शिक्षित तथा अशिक्षित जनता को आधार बनाकर किया है । यहाँ शिष्ट साहित्य का अभिप्राय शुक्लजी का इतिहास जिन साहित्यिक रचनाओं का इतिहास है, उससे है । वस्तुत: आचार्य शुक्ल की मूलवर्ती भावराशि का संबंध सामान्य जनता जिसमें शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों तरह की जनता है की चित्तवृत्तियों के संचित प्रतिबिंब से मानते हैं । शिक्षित तथा अशिक्षित जनता में फर्क उन्होंने यह भी बतलाया है कि शिक्षित जनता वो है जो समाज तथा साहित्य में रूचि रखते थे तथा अशिक्षित से अभिप्राय उस भोली जनता से है जो संतों के प्रभाव में थी । इसी तरह के स्वयं के अंतर्विरोधों को उन्होंने संवारा भी है । साहित्येतिहास ग्रंथ के निर्माण से पहले उन्होंने 'जनता' के स्थान पर 'शिक्षित जनता' तथा 'संचित प्रतिबिम्ब' के स्थान पर 'स्थायी प्रतिबिम्ब' का प्रयोग किया था । स्थायी प्रतिबिम्ब में शायद उन्हें ठहराव लगा या सृजनता की कमी महसूस हुई तो इसके स्थान पर 'संचित' शब्द का प्रयोग किया ।

आचार्य शुक्ल ने 'शिक्षित जनता की प्रवृत्ति' के साथ-साथ लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि को भी बराबर महत्त्व दिया है । शुक्लजी के लेखन में 'लोक' बहुतायत से प्रयोग हुआ है । लोक का प्रयोग जब उन्होंने साहित्यिक रूचि के संदर्भ में किया है तो उसमें व्यक्तिवाद के विरुद्ध जातीय और सामुदायिक तत्त्व की प्रतिष्ठा साफ रूप में दिखाई देती है । निर्मला जैन लिखती हैं, "महत्वपूर्ण बात इतनी नहीं है कि वे व्यक्ति से अधिक लोक को महत्ता देते थे । उनकी लोक विषयक अवधारणा वस्तुत: दरबारी प्रवृत्ति के विरुद्ध, निपट गोष्ठी रसिकों के विरुद्ध और सबसे अधिक परलोक के विरुद्ध इस लोक की प्रतिष्ठा है ।"[13] आचार्य शुक्ल जब 'विरुद्धों का सामंजस्य', 'भाव-विभाव की समन्विति', 'अनेकता में एकता' आदि की चर्चा करते हैं तब उनकी दृष्टि 'लोकमंगल' की तरफ अधिक होती है । शुक्लजी का लोकमंगलवाद

यह मानकर चलता है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के दक्षिण तथा वाम पक्ष हैं वैसे ही हृदय के कोमल तथा कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं। काव्य-कला की सारी सुन्दरता इन्हीं दो पक्षों के संयोग के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखती है। यही शुक्लजी का 'विरुद्धों का सामंजस्य' है। इस सामंजस्य की बात उन्होंने साधनावस्था के अंतर्गत की है क्योंकि वे सच्चा कवि उनको मानते हैं जो सिद्धावस्था के नहीं साधनावस्था के पुजारी हों।

आचार्य शुक्ल का साहित्य-दर्शन मूलत: मानव के जीवन-दर्शन से सम्बंधित है। इसलिए वें 'ब्रह्म सत्यम जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' सिद्धांत के प्रवर्तक शंकराचार्य की तरह अद्वैतवादी न होकर वल्लभाचार्य की तरह 'ब्रह्म सत्यम जगत्सत्यं अशों जीवो ही नापर:' सिद्धांत को मानने वाले शुद्धाद्वैतवादी थे। इसलिए उन्होंने शुद्धाद्वैतवाद के आलोक में अपने रस-सिद्धांत की स्थापना की और उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए सगुण-निर्गुण भक्ति का संयोग करते हुए रसानुभूति के सम्बन्ध को लोकहृदय की अनुभूति से जोड़कर हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा की संज्ञा दी। डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव अपने लेख में लिखते हैं, "आचार्य शुक्ल ने जिसे ज्ञानदशा या आत्मा की मुक्तावस्था कहा है, वही वल्लभाचार्य की सात्विक ज्ञानोत्तर कैवल्य-मुक्ति या सगुण जीवन्युक्ति है। इसी मुक्तावस्था को शुक्लजी ने 'रसदशा' या हृदय की मुक्तावस्था के समानांतर रखा। उनका भावयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग वल्लभाचार्य के भक्तियोग का ही पर्याय है। इसीलिए आचार्य शुक्ल शुद्धाद्वैतवादी थे तो दूसरी और बौद्धाचार्य वसुमित्र की तरह सर्वास्तिवादी भी।"[14] आचार्य शुक्ल चिन्तन तथा ज्ञान के क्षेत्र में अद्वैतवादी या अव्यक्तवाद को अवश्य मानते हैं किन्तु व्यवहार के स्तर पर द्वैतवाद या व्यक्तवाद तक ही अपनी सीमा रखते हैं।

लोकमंगल आचार्य शुक्ल के चिंतन का केन्द्रीय तत्त्व है। लोकमंगल के दोनों शब्द लोक और मंगल उनको भारतीय परम्परा के प्रवाह से प्राप्त हुए थे। उन्होंने 'लोक' शब्द को अपनी रचनाओं 'चिंतामणि'

तथा 'गो. तुलसीदास' में काफी बार लक्षित किया है जैसे, लोकादर्शवाद, लोकवाद , लोकसंग्रही, लोकवाह्य, लोकविरोधी, अलोकोपयोगी आदि । जिस प्रकार तुलसीदास के यहाँ 'महा' शब्द खूब मिलता है वैसे ही आचार्य शुक्ल के यहाँ 'लोक' शब्द है । 'मंगल' शब्द का अर्थ शुभ, भाग्यशाली, कल्याणकारी, आनंद, उल्लास आदि है । विष्णुकांत शास्त्री लिखते हैं, "लोकमंगल से शुक्लजी का अभीष्ट अर्थ है इसी जगत में बसने वाले सर्वसाधारण मानव-समाज का धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक, शारीरिक आदि विविध दृष्टियों से कल्याण ।"[15] आचार्य शुक्ल के अनुसार जहाँ कवि मंगलशक्ति की सफलता दिखाता है तो वह सिर्फ कला की दृष्टि से सौंदर्य का प्रभाव डालने के लिए, ना कि धर्म-शासक की हैसियत से किसी को डराने के लिए। कवि कर्म-सौंदर्य के प्रभाव से प्रवृत्ति या निवृत्ति को अन्त:प्रकृति में उत्पन्न करता है उसका उपदेश नहीं देता । मंगल का विधान करने वाले भावों के बारे में वे कहते हैं, "भावों की छानबीन करने पर मंगल के विधान करने वाले दो भाव ठहरते हैं- करुणा और प्रेम. करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर । लोक में प्रथम साध्य रक्षा है । रंजन का अवसर उसके पीछे आता है । अतः साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीज भाव करुणा ही ठहरता है ।"[16] इसी करुणा को उन्होंने रामायण के माध्यम से समझाया है कि, "लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा और विघ्नबाधा से मुक्त हो जाता है तब रामराज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम-प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का अवकाश मिलता है ।"[17] उन्होंने प्रेमभाव की कोमल अभिव्यंजना को ही काव्य के उन्नति के लिए आवश्यक नहीं माना अपितु क्रोध आदि उग्र भावों में भी करुणाभाव की अभिव्यक्ति को काव्य के पूर्ण सौंदर्य के लिए आवश्यक माना है ।

आचार्य शुक्ल आधुनिक समीक्षा के अग्रणी आलोचक हैं जिन्होंने समीक्षा सम्बन्धी सिद्धांतों में लोकमंगल की अवधारणा अनेक रूपों में स्पष्ट की है । उन्होंने अपने आलोचनात्मक निबंध में

लोकमंगल के बीच हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्तिमार्ग में देखा। सत चित और आनंद ब्रह्म रूपी तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्ति मार्ग आनंद रूपी स्वरूप को लेकर चला है। यहाँ ये कहा जा सकता है की आचार्य रामचंद्र शुक्ल की काव्य-दृष्टि का आधार भारतीय मध्ययुगीन भक्तिमार्ग हो सकता है जबकि काव्य में अलग-अलग प्रवृत्ति की रचनाएँ भक्तिमार्ग से हटकर भी साहित्येतिहास में मौजूद हैं। आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि इस तरह उनकी अनेक रचनाओं में दृष्टिगत होती हैं,

- भाव या मनोविकार में वें कहते हैं, " रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख-दुःख का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौंदर्य के साथ हो जायेगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृणगुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जायेगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जायेगा और वह जगत का सच्चा प्रतिनिधि हो जायेगा।"[18] उनके अनुसार समस्त जीवन के प्रतिष्ठाता भाव या विकार ही होते हैं। अनुभूति को पहला चरण मानते हुए उसके भिन्न-भिन्न योग घटकों को ही भाव या मनोविकार माना है। (भाव या मनोविकार)
- "उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में।"[19] कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं। (उत्साह)
- "भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखने वाली शक्ति कविता है जो धर्म-क्षेत्र में शक्ति-भावना को जगाती रहती है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मंगल तथा लोक के मंगल का संगम उसी के भीतर दिखाई पड़ता है।"[20] (भाव या मनोविकार)
- आचार्य शुक्ल प्रेम और श्रद्धा में अंतर समझाते हुए कहते हैं कि किसी के सुंदर आँख या नाक देखकर आप उनसे प्रेम तो कर सकते हैं किन्तु श्रद्धा नहीं। श्रद्धा के लिए आवश्यक है कि मनुष्य किन कारणों से हमारे लिए सम्मान का पात्र है। प्रेम एक मात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर

रहता है जबकि श्रद्धा अपनी सामजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव पर ही जगती है, "प्रेम और श्रद्धा में अंतर यह है कि प्रेम स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं- कभी-कभी किसी का रूप मात्र, जिसे उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है, पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुंदर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है।"[21] (श्रद्धा-भक्ति)

- "श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है।"[22] (श्रद्धा-भक्ति)
- "जन साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र कि सामान्य स्थिति रक्षा से है उसके अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन-संपत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।"[23] (श्रद्धा-भक्ति)
- "करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं।"[24] (करुणा)
- "लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनंद का अनुभव होना।"[25] (लोभ और प्रीति)
- "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।"[26] (कविता क्या है)
- "अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनंद' स्वरूप का संतत आभास नहीं रहता, उसका अभिर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसंत-विकास रहता है, न सुख-समृद्धिपूर्ण हास-विलास।"[27] (काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था)

- "काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं।"[28] (साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद)

इसी तरह की बहुत सी स्थापनाओं को आचार्य शुक्ल ने अपनी तर्क क्षमता से स्थापित किया है। साहित्येतिहास के साथ-साथ शुक्लजी निबंध के बारे में कहते हैं कि यदि गद्य लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। इनके इस कथन के अनुसार यदि निबंध गद्य की कसौटी है तो 'चिंतामणि' को हम हिंदी निबंधों की कसौटी कह सकते हैं। 'चिंतामणि' के बारे में डॉ. रामकृपाल पाण्डेय लिखते हैं, "आचार्य शुक्ल की 'चिंतामणि' में समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने की रहस्यमयी शक्ति तो नहीं है, किन्तु उसमें चिन्तन के ऐसे मूल्यवान सूत्र अवश्य हैं जो समस्त मानव जाति को विश्वमंगल का सच्चा मार्ग दिखा सकते हैं। 'चिंतामणि' में अभिव्यंजित शुक्लजी की विश्वदृष्टि तथा सामाजिक दृष्टि को दूसरे शब्दों में उनके दार्शनिक-चिन्तक व्यक्तित्त्व को आज तक भी भली-भांति पहचाना नहीं जा सका है।"[29] आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन, काव्य, निबंधों तथा कवियों एवं कृतियों की समीक्षा में सर्वत्र उनकी समाजोन्मुखी दृष्टि रही है।

आचार्य शुक्ल को हिंदी साहित्य में एक आलोचक व निबंधकार के रूप में ज्यादा जाना जाता है किन्तु उन्होंने अपने विचारों तथा भावों को कविता का रूप भी सुंदर ढंग से दिया है। शुक्लजी की पहली कविता 'मनोहर छटा' कही जाती है जो सन 1901 में 'सरस्वती' पत्रिका में छपी थी। उन्होंने अपनी पहली ही कविता में प्रकृति के यथार्थ तथा लहलहाते खेतों के वसंतकालीन सौंदर्य का वर्णन किया है। प्रकृति के प्रति उनका अगाध प्रेम दूसरी कविता 'हृदय का मधुर भार' व 'प्रकृति-प्रबोध' में भी देखने को मिलता है। 'भारत और वसंत' तथा 'गोस्वामी जी और हिंदू जाति' आदि उनकी कविताएँ देशभक्ति से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अनुवाद के क्षेत्र में भी हिंदी साहित्य में विशिष्ट योगदान दिया है। इनके काव्यकला की सही जानकारी हमें The light of Asia के अनुवाद

'बुद्धचरित' में मिलती है। यह ग्रंथ ब्रज भाषा में लिखा गया तथा आचार्य शुक्ल ने राम तथा कृष्ण की तरह ही भगवान बुद्ध को भी हिंदी भाषी जनता को स्मरण कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है, "यद्यपि ढ़ंग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतंत्र हिंदी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। दृश्य वर्णन जहाँ अयुक्त या अपर्याप्त प्रतीत हुए वहां बहुत कुछ फेर-फार करना या बढ़ाना भी पड़ा है।"[30] यह ग्रंथ अनुवाद होते हुए भी स्वतंत्र-ग्रंथ प्रतीत होता है। काव्य में उनकी इसी समझ के कारण ही उन्होंने जायसी, तुलसी, सूर आदि कवियों का सुगम विवेचन कर हिंदी साहित्य में स्थापित किया। 'भ्रमरगीतसार' में आचार्य शुक्ल लिखते हैं, " 'भ्रमरगीत' सूरसागर के भीतर का एक सार रत्न है।"[31] वे सूरसागर का साहित्य में कोई अच्छा संस्करण न होने के कारण 'भ्रमरगीतसार' को सहृदय समाज के सामने रखते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल कला, दर्शन, और विज्ञान के गहन अध्येता थे। विश्वप्रपंच में वें विज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं के आलोक में द्रव्य तथा शक्ति के बारे में अपनी धारणा बतलाते हुए कहते हैं, "द्रव्य और शक्ति दोनों अक्षर और अविनाशी हैं। वे अपने एक रूप से दूसरे रूप में जा सकते हैं पर नष्ट नहीं हो सकते। उनका अभाव नहीं हो सकता। सिद्धांत यह है कि विश्व में जितना द्रव्य है उतना ही सदा से है, और सदा रहेगा- उतने से न घट सकता है, न बढ़ सकता है।"[32] 'काव्य' स्वरूप के संदर्भ में स्वयं को अभिव्यक्तिवादी कहते हुए वे स्वीकार करते हैं कि अव्यक्त की अभिव्यक्ति जगत और जगत की अभिव्यक्ति काव्य है। धर्म की परिभाषा बतलाते हुए उन्होंने उसे अव्यक्त से सत्स्वरूप की व्यक्त प्रकृति कहा है। राममूर्ति त्रिपाठी आचार्य शुक्ल के इन्हीं विचारों तथा तर्कों पर लिखते हैं, "चिंतन तथा ज्ञान के क्षेत्र में वें अद्वैतवाद या अव्यक्तवाद को अवश्य मानते हैं, पर व्यवहार के स्तर पर द्वैतवाद या व्यक्तवाद तक ही अपनी सीमा मानते हैं। अव्यक्त को उन योगियों के लिए छोड़ देते हैं –जो अतिप्राकृत साधना से अतिप्राकृत शक्ति द्वारा उनकी अपरोक्षानुभूति करते हैं।"[33]

आचार्य शुक्ल की कई मान्यताएं ऐसी भी हैं जो आलोचकों तथा विद्वानों के बीच विवादास्पद रही हैं। परम्परा से हटकर जब वे स्वीकार करते हैं कि काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में रहती है, यह मान्यता विद्वानों में पर्याप्त विवादास्पद रही। इसी तरह का विवाद तब भी हुआ जब वे कहते हैं कि यूरोप का अभिव्यंजनावाद यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है। आचार्य शुक्ल काव्यरूपों में मुक्तक काव्य तथा प्रगीत काव्य की अपेक्षा प्रबंध काव्य को ज्यादा महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार मुक्तक काव्य में जो रस की रस्म अदायगी होती है, उसमें शीलदशा का समावेश नहीं होता और उसका उद्देश्य तो मनोरंजन मात्र होता है। इसीलिए शायद उन्होंने रामायण को आर्यकाव्य का आदर्श मानते हैं। आचार्य शुक्ल की और भी काफी मान्यताएं साहित्य में हैं जिनमें कई विवादस्पद हैं तथा कई अभी तक अवधारणा के रूप में चली आ रही हैं। उन्होंने सदैव अपने चिंतन को यथासंभव प्राकृत परिधि में ही रखा।

4.1.1. आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन की पद्धति :

हिंदी साहित्य को व्यवस्थित रूप देने वाले आचार्य शुक्ल पहले इतिहासकार हैं। इनसे पूर्व गार्सा द तासी, शिवसिंह सिंह सेंगर, मिश्रबंधु और जार्ज ग्रियर्सन ने हिंदी साहित्येतिहास की सामग्री जुटाने तथा जार्ज ग्रियर्सन ने तो यूरोप में प्रतिष्ठित दार्शनिक सिद्धांत विधेयवाद पद्धति का इतिहास लेखन में प्रयोग करने का प्रयत्न किया था। किन्तु शुक्लजी ने पहली बार विधेयवाद पद्धति का सही प्रयोग कर हिंदी साहित्य के इतिहास का निर्माण किया। इसके लिए उनको जितनी सामग्री की आवश्यकता हुई उतनी पूर्ववर्ती इतिहास ग्रंथों तथा चार्ल्स इलियट, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल सांकृत्यायन, हरप्रसाद शास्त्री, विनयतोष भट्टाचार्य आदि ने उपलब्ध करवाई। आचार्य शुक्ल के बारे में नलिन विलोचन शर्मा कहते हैं कि उनकी इतिहास-दृष्टि विधेयवादी है और हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में विधेयवाद की प्रणाली का व्यवहार करने वाले आचार्य शुक्ल पहले व्यक्ति नहीं हैं. इसके प्रवर्त्तक के श्रेय के अधिकारी

तो वस्तुत: ग्रियर्सन हैं। उन्होंने ये भी लिखा है, "वह यह कि विधेयवाद अपने ढंग से मार्क्सवादियों को उतना ही गाह्य है, जितना शुक्लजी के समान विद्वानों को! दोनों ही साहित्य तथा पारिपार्श्विक परिस्थितियों में कार्य-कारण सम्बन्ध मानते हैं, अंतर है तो दृष्टिकोण-मात्र का।"[34] इस तरह वे हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के मध्य आचार्य शुक्ल के इतिहास-ग्रन्थ की व्यापक मान्यता का रहस्य बतलाते नजर आते हैं।

मैनेजर पाण्डेय विधेयवादियों के बारे में लिखते हैं, "विधेयवादी इतिहास-दृष्टि के अनुसार साहित्य और समाज में कार्यकारण सम्बन्ध होता है, साहित्य सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। विधेयवादी वैज्ञानिकता के नाम पर प्राकृतिक विज्ञानों की प्रणाली को साहित्य के इतिहास-लेखन में लागू करते रहते हैं, वैज्ञानिकता के बहाने विचारधारात्मक संघर्ष में तटस्थता और पक्षधरताविरोधी रवैया अपनाते हैं। वे तथ्यपरकता से बंधे होने के कारण मूल्यों की अपेक्षा करते हैं, साहित्य इतिहास लेखन को पुरातात्विक विवेचन बनाकर विकृत इतिहास प्रस्तुत करते हैं।"[35] वे बतलाना चाहते हैं कि विधेयवादी साहित्य के सौंदर्यबोधीय और कलात्मक पक्षों की उपेक्षा करते हैं जिसकी पर्याप्त आलोचना पश्चिम में भी हो चुकी है। वस्तुत: विधेयवादी पद्धति एक दार्शनिक चिंतन पद्धति है जो सकारात्मक तथ्यों तथा दृश्य सत्ता को स्वीकार करती है। शुक्ल जी की इतिहास-दृष्टि के बारे में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वे विधेयवादी हैं भी या नहीं? 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' में नलिनविलोचन शर्मा ने शुक्ल जी को विधेयवादी कहा है। मैनेजर पाण्डेय इसपर अपना मत रखते हुए कहते हैं, "आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि विधेयवाद निर्धारणवाद, तथ्यवाद, झूठी वैज्ञानिकता, विचारधारात्मक संघर्ष में तटस्थता और पुरातात्विकता का शिकार नहीं है। उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और वस्तुवादी है.....वे सामन्ती और पूंजीवादी जीवन मूल्यों, कलामूल्यों आदि का विरोध करते हैं और जनवादी संस्कृति, परंपरा तथा कलामूल्यों का पक्ष लेते हैं। विधेयवाद का अविवेकी भौतिकवाद साहित्य के इतिहास लेखन में

अत्यधिक भाववाद से जा मिलता है जबकि आचार्य शुक्ल का विवेकी भाववाद ऐतिहासिक भौतिकवाद के निकट दिखाई देता है।"[36] मैनेजर पाण्डेय ने इस प्रसंग में जो कहा है वह आचार्य शुक्ल के महत्त्व को बढ़ाता है। सही और प्रगतिशील चिंतन के विकास में दो तरह के खतरे हमेशा होते हैं, पहला सामन्ती व पूंजीवाद व्यवस्था के पक्षधरों की तरफ से जो रुपवाद तथा कलावाद का नाम लेकर इतिहास, समाज और साहित्य के सम्बन्ध को नकारने में लगे रहते हैं तथा दूसरा प्रगतिशील चिंतन के भतिरेकी दृष्टिकोण से होता है। इन्होंने विधेयवाद और शुक्लजी के बारे में लिखा है, "अगर अब भी किसी को आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि के विधेयवादी होने का भ्रम बना हुआ हो तो उसे तेन के अंग्रेजी साहित्य के इतिहास से शुक्लजी के इतिहास की तुलना करके अपना भ्रम दूर कर लेना चाहिए। ऐसे तुलनात्मक अध्ययन के बाद शुक्लजी की इतिहासदृष्टि की भिन्नता और श्रेष्ठता समझ में आ जाएगी।"[37] उनके अनुसार मार्क्सवादियों के बीच आचार्य शुक्ल के इतिहास की मान्यता का कारण उनका विधेयवाद नहीं है अपितु उनका सामन्ती संस्कृति, दरबारी साहित्य तथा पूंजीवादी कलामूल्यों का विरोध करके साहित्य में जनवादी मूल्यों तथा प्रवृत्तियों को स्थापित करना है। शुक्लजी के इतिहास लेखन की पद्धति के बारे में अन्य कुछ आलोचकों का मत भी मैनेजर पाण्डेय से मिलता-जुलता है। शिवकुमार मिश्र इस विषय में अपना मत रखते हुए कहते हैं, "जरूरत इस मान्यता के परीक्षण की है, इसलिए कि शुक्लजी की वस्तुवादी इतिहास दृष्टि को विधेयवाद के यान्त्रिक तथा सीमित सरोकारों से अलगाया जा सके। विधेयवादी इतिहास दृष्टि हमें तेन जैसे पश्चिमी इतिहास लेखकों में मिलती है जो साहित्य को समाज के कार्य-कारण यांत्रिक संबंधों के तहत देखते हुए इस प्रकार का इतिहास प्रस्तुत करते हैं जिसमें सामाजिक घटनाएँ साहित्य में यांत्रिक तरीके से प्रतिबिंबित होती हैं और साहित्य की अपनी सत्ता आहत रूप में सामने आती है। विधेयवाद के अंतर्गत साहित्य की अपनी विशिष्ट इयत्ता का ही लोप नहीं होता वहां साहित्यिक विकास तथ्याश्रित हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की अपनी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं रह जाती।"[38]

आचार्य शुक्ल साहित्येतिहास में पहले आलोचक रहे हैं जिन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के साहित्य चिंतन को पूरी तरह आत्मसात कर अपनी मौलिक सृजन शक्ति एवं विवेक से युग की आवश्यकताओं को पहचानते हुए पुरानी पद्धति को नए ढ़ंग से प्रयोग किया। उनमें ग्रहण एवं चयन की अद्भुत प्रतिभा थी। आचार्य शुक्ल की शैली की विवेचना से पहले हिंदी में प्रचलित पाश्चात्य आलोचना पद्धतियों पर दृष्टि डालना आवश्यक है। हिंदी में बहुत सारी पद्धतियाँ पाश्चात्य पद्धतियों के अनुरूप ही ज्यों कि त्यों ग्रहण कर ली गई। हिंदी में पुस्तक समीक्षा भले ही एक स्वतंत्र विद्या के रूप में विद्यमान है लेकिन इसका आगमन और विकास अंग्रेजी से हुआ है। हिंदी में पाठालोचन का कार्य सम्भवत अंग्रेजी साहित्य की प्रेरणा से ही आरम्भ हुआ है। आगमनात्मक तथा निगमनात्मक पद्धति का प्रयोग भी आचार्य शुक्ल ने भरपूर मात्रा में किया है। इन्होंने व्याख्यात्मक पद्धति का प्रयोग भी विशेष रूप से किया है। जिसके अंतर्गत इन्होंने ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, जीवनीपरक आदि अलग-अलग पद्धतियों को शामिल किया। आचार्य शुक्ल ने तुलसी, सूर एवं जायसी सम्बन्धी अपने निबंधों में व्याख्यात्मक पद्धति का प्रयोग किया है। शुक्ल जी की आलोचना पद्धति विस्तृत, गंभीर व नवीन है जिसमें उन्होंने कवि, कृति, परिवेश तथा मूल्य आदि चार बातों पर विशेष ध्यान दिया है। इन्होंने अपने विवेचन में कवि की जीवनी, कृति पर पड़े प्रभाव तथा समय और समाज की प्रेरणाओं तथा विचारधाराओं के विषय में जानना आवश्यक समझा है। कवि मानस पर प्रभावित परिस्थितियों- सामाजिक, वैचारिक तथा राजनैतिक पर बल दिया है। ग्रंथ की मौलिकता, उसकी कलात्मकता को जानकर ही कृति का मूल्यांकन किया है। इन सभी सिद्धांतों के निरूपण में उन्होंने ऐसी पद्धति का प्रयोग किया है जो उनके गंभीर व्यक्तित्व के अनुकूल थी तथा जिसे उन्होंने हिंदी परम्परा से नहीं बल्कि डॉ. जानसन से लेकर रिचर्डस तक की अंग्रेजी परम्परा से ग्रहण किया। शुक्ल जी और अर्नाल्ड की तुलना करते हुए एक आलोचक ने लिखा है, 'शुक्लजी ने भारतीय वातावरण के अनुरूप किन्तु पाश्चात्य साहित्य शैली को माध्यम बनाकर समीक्षा के ठोस

उपादानों को एकत्र किया और निर्दिष्ट सीमा के भीतर उसकी बद्ध आत्मा को जीवन के व्यापक क्षेत्र में ला रखा।'

आचार्य शुक्ल ने 'गेले एंड स्काट' की पुस्तक 'मेथेड्स एंड मेटीरियल्स ऑफ़ लिटेरेरी क्रिटिसिज्म' के अनुरूप ही समालोचना के दो मुख्य मार्ग माने हैं, पहला निर्णयात्मक और दूसरा व्याख्यात्मक। निर्णयात्मक आलोचना को वे किसी भी रचना के गुण-दोष को निरुपित कर उसका मूल्यांकन करने वाली मानते हैं। इसे शुक्लजी ने 'आउट डेटेड' पद्धति करार दिया है। व्याख्यात्मक पद्धति को उन्होंने अपने शुद्ध रूप में काव्यवस्तु तक परिमित रहने वाली पद्धति माना है। उन्होंने इस पद्धति के अंतर्गत ही ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, जीवन चरितात्मक आदि अलग-अलग- पद्धतियों को माना है। यह एक वैज्ञानिक पद्धति है जो रचना के सम्पूर्ण पक्षों का मूल्यांकन करती है। इसमें आलोचक द्वारा उन सभी बिन्दुओं पर विवेचन किया जाता है जिनको आधार बनाकर रचना का निर्माण किया गया है। आचार्य शुक्ल ने इस पद्धति में खोज, विश्लेषण-विवेचन, कृति के अंतर्बाह्य का उद्घाटन तथा सौंदर्य निरूपण आदि मापदन्डों का विशेष ध्यान रखा है। जिस प्रकार डॉ. जानसन ने शेक्सपीयर के नाटकों का सूक्ष्म अध्ययन कर उनके पात्रों की चरित्रगत विविधता का स्पष्टीकरण किया वैसे ही आचार्य शुक्ल ने तुलसी, सूर, जायसी आदि कवियों की अंतर्वृत्तियों की गहरी छानबीन की है। इतिहास-लेखन की विधेयवादी पद्धति ऐतिहासिक पद्धति से काफी मिलती-जुलती है। विधेयवादी पद्धति में जिस 'जाति' तत्त्व का जिक्र है वह ऐतिहासिक पद्धति का महत्व निर्धारित करती है। जाति पैतृक गुणों तथा परम्पराओं का संमुच्चय है तो परिस्थिति बाह्य शक्तियों का समन्वयन। जाति परिस्थिति तथा युग, ये तीनों तत्व साहित्यकार के व्यक्तित्व के माध्यम से प्रतिफलित होते हैं।

विधेयवादी पद्धति के बारे में नलिनविलोचन शर्मा लिखते हैं, "प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में साहित्यिक अध्ययन की उस विधेयवादी प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह हुआ, जो उन्नीसवीं शताब्दी के

उत्तरार्ध में बहुश: व्यवहत होती थी। विधेयवादी प्रणाली में असम्बद्ध तथ्य एकत्रित किए जाते हैं। उसमें अंतर्व्याप्त मान्यता यह रहती है कि साहित्य की व्याख्या भौतिक विज्ञानों की प्रणालियों से कार्य-कारण-मीमांसा के द्वारा और बहिर्भुत निर्धारण शक्तियों को ध्यान में रखते हुए, होनी चाहिए।"[39] विधेयवाद के विरुद्ध यूरोप में एक विद्रोह हुआ जिसका श्रेय दार्शनिक वातावरण को भी जाता है। फ्रांस, इटली, जर्मनी तथा इंग्लैंड के अनेक आलोचकों ने आदर्शवादी तथा अनुमानात्मक प्रणालियों के पक्ष में विधेयवादी दर्शन का परित्याग कर दिया। इस बदलाव से साहित्य में परिवर्तन आया तथा विद्वता के स्वर और दृष्टिकोण को प्रभावित किया। इस बदलाव के बारे में नलिनविलोचन शर्मा का मत है, "इससे भी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि दार्शनिकों के एक वर्ग ने ऐतिहासिक विज्ञानों की प्रणालियों का समर्थन प्रस्तुत किया और भौतिक विज्ञानों की प्रणालियों से उनकी तीक्ष्ण भिन्नता प्रतिपादित की।"[40] इन्होंने जर्मनी के दार्शनिक विल्हेल्म दिल्फे तथा फ्रांसिसी दार्शनिक ऐ.डी. जेनोपोल की स्थापनाओं को बतलाया है कि कैसे एक वैज्ञानिक, घटनाओं की व्याख्या उसकी कारणभूत पूर्व घटनाओं के माध्यम से करता है तथा इतिहासकार उसका अर्थ संकेतों या प्रतीकों के रूप में समझने का प्रयास करता है। इतिहासकार तथ्य निर्दिष्ट करने का प्रयत्न करता है जबकि भौतिक वैज्ञानिक सामान्य नियमों की स्थापना का प्रयास करता है। साहित्येतिहास में कवियों तथा रचनाओं की उपलब्धता तथा प्रमाणिकता को देखते हुए ऐसी पद्धति की आवश्यकता महसूस हुई जिससे एक व्यवस्थित ग्रंथ का निर्माण किया जा सके। इन्हीं सभी कारणों के कारण उन्होंने विधेयवादी पद्धति के सकारात्मक पहलुओं का इस्तेमाल कर इतिहास-ग्रंथ का निर्माण किया।

4.2. फुटकल कवि की अवधारणा :

आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्यविवेक के सहारे हिंदी साहित्य के लगभग एक हजार वर्षों के इतिहास की साहित्यिक व असाहित्यिक रचनाओं को अलग करके 'हिंदी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ

का निर्माण किया। इस ग्रंथ के निर्माण में उनके सामने अनेक तरह की चुनौतियाँ थीं। एक पद्धति को अपनाकर जब उन्होंने इस ग्रंथ का सांचा तैयार किया तो बहुत सारे कवि व रचनाएँ उनके अनुकूल नहीं थे। साहित्य के इतिहास को कालखंडों में विभाजित करने के बाद उनके सामने एक कालावधि के अंदर अनेक तरह की प्रवृत्तियों वाले बहुत सारे कवि थे। उदाहरण के लिए वीरगाथा काल में उन्होंने जिस प्रवृत्ति को मुख्य माना है उसके इतर भी इस काल में बहुत सारी प्रवृत्तियां थीं। इसी समस्या को हल करने के लिए उन्होंने प्रत्येक कालखंड में अन्य प्रवृत्तियों के लिए एक खाते का निर्माण किया जिसे फुटकल नाम दिया गया। यहाँ फुटकल का अर्थ 'अलग', 'अयुग्म' या 'कई मेल का' है। जब शुक्लजी के साहित्येतिहास को देखते हैं तो कहीं-कहीं फुटकल का अर्थ संख्या के लिए होता है, उदाहरण के लिए आदिकाल में फुटकल खाता दो कवियों के लिए है, भक्तिकाल में बाईस कवियों के लिए भी यह खाता फुटकल ही है लेकिन जब रीतिकाल को देखते हैं तो यहाँ फुटकल खाता 'अन्य कवि' में बदल जाता है। रीतिकाल में आचार्य शुक्ल ने मुख्य प्रवृत्ति के कवियों से ज्यादा अन्य प्रवृत्ति के कवियों को जगह दी है। यह फुटकल शब्द शुक्लजी की अन्य साहित्यिक रचनाओं में भी नजर आता है। जायसी ग्रंथावली में भी उन्होंने 'फुटकल प्रसंग' नामक एक खाता रखा है जिसमें 'नम्रता की शक्ति', दुःख की घोरता तथा साहस आदि प्रसंगों का वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "पदमावत के बीच-बीच में बहुत से ऐसे फुटकल प्रसंग भी आये हैं जैसे दानमहिमा, द्रव्य-महिमा, विनय आदि।"[41]

साहित्य इतिहास में इस तरह के खाते का निर्माण शुक्लजी से पहले के इतिहासकारों ने भी किया है। 'मिश्रबंधु विनोद' को देखेंगे तो पायेंगे उन्होंने प्रत्येक कालखंड के अंत में, "इस समय के अन्य कविगण "[42] नामक खाता बनाकर अनेक कवियों का वर्णन किया है। मिश्रबंधु ने अपने ग्रन्थ में अनेक तरह की श्रेणियां भी बनाई हैं। कवियों की रचनाओं तथा उनकी भाषा के अनुसार उन्हें साधारण तथा विशिष्ट श्रेणी में रखा है। जैसे ब्रजपति भट्ट कवि का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं, "इनकी रचना रागसागरोद्भव में

है। साधारण श्रेणी।"[43] मिश्रबंधु विनोद का यह प्रभाव शुक्ल जी के इतिहास ग्रंथ में साफ़ नजर आता है। 'विनोद' में जो कवि साधारण श्रेणी में हैं वे शुक्ल जी के इतिहास में जगह नहीं बना पाए। जिन कवियों के बारे में 'विनोद' में पर्याप्त स्थान तथा विवेचन है, वही कवि शुक्लजी के यहाँ हैं। मिश्रबंधु से पहले भी इतिहासकारों ने इस तरह के खातों का निर्माण किया है। जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास ग्रन्थ में इसी तरह हर अध्याय के अंत में 'परिशिष्ट' नामक खाते का निर्माण किया है जिसमें कवियों को उनकी प्रवृत्तियों के आधार पर रखा है। ग्रियर्सन ने अध्याय आठ 'तुलसीदास के अन्य परवर्ती' में 'अन्य कवि' नामक खाता भी रखा है। 'शिवसिंह सरोज' के रचनाकार ने भी अपने ग्रंथ के अंत में 'परिशिष्ट' नामक खाता बनाकर 56 कवियों का वर्णन उसमें किया है। अगर साहित्य इतिहास के प्रथम प्रयास को देखते हैं तो हमें वहां भी ऐसी श्रेणियां देखने को मिलती हैं. गार्सा द तासी ने भी अपने ग्रंथ में 'परिशिष्ट' नामक खाता बना उनमें अलग-अलग तरह की रचनाओं का वर्णन किया है। प्रथम परिशिष्ट में छपी हुई हस्तलिखित हिंदुई(हिंदी) और हिन्दुस्तानी(उर्दू) की रचनाओं की सूची है। इन सभी उदाहरणों के माध्यम से हम ये कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल का इतिहास कहीं न कहीं इन ग्रंथों से प्रभावित रहा है। 'फुटकल कवि' तथा 'अन्य कवि' नामक खाते आचार्य शुक्ल के यहीं नहीं अपितु साहित्येतिहास के सभी रचनाकारों के यहाँ मिलते हैं।

4.2.1. आचार्य शुक्ल का काल-विभाजन :

साहित्य का इतिहासकार जब किसी साहित्येतिहास को प्रस्तुत करना चाहता है तब उसके सामने अतीत की अलग-अलग प्रवृत्तियों की अनेक रचनाएं होती हैं। जिन रचनाओं को लेकर इतिहासकार इतिहास प्रस्तुत करना चाहता है। उन सभी रचनाओं को वह काल-क्रमानुसार सुसम्बद्ध रूप से सजाकर रखा है। इतना कर देने मात्र से ही इतिहास पर विशुद्ध इतिहास की रचना नहीं होती क्योंकि साहित्य के इतिहास पर विशुद्ध इतिहास का भी प्रभाव पड़ता है। समाज जिसके आधार पर

इतिहास लिखा जाता है उसका साहित्य से भी सीधा संबंध है। इतिहास को देखने मात्र से पता चलता है कि विभिन्न कालों की संस्कृतिगत प्रवृत्तियों में जैसे तैसे भिन्नता आ ही जाती है चाहे उसके पीछे कारण भले ही धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थिति हों। इतिहासकार विभिन्न कालों में इन परिवर्तनों को देखते हुए अपने साहित्यविवेक से साहित्येतिहास प्रस्तुत करता है, काल वर्गीकरण करता है। आचार्य शुक्ल ने भी अपने इतिहास ग्रंथ में शताब्दियों से निर्मित हिंदी साहित्य का काल-विभाजन इन्हीं दृष्टियों से किया है-

- वीरगाथा काल (आदिकाल) सं. 1050-1375
- पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल) सं. 1375-1700

    निर्गुण धारा (ज्ञानाश्रयी शाखा तथा प्रेममार्गी सूफी शाखा)

    सगुण धारा (रामभक्ति शाखा तथा कृष्णभक्ति शाखा)
- उत्तर-मध्यकाल (रीतिकाल) सं. 1700-1900
- गद्य काल (आधुनिक काल) सं. 1900-1984

काल-विभाजन तथा नामकरण का आधार शुक्ल जी ने किसी कालखंड में किसी एक ढ़ंग की रचनाओं की प्रचुरता तथा ग्रंथों की प्रसिद्धि को माना है। किसी काल के भीतर जिस एक ढंग के अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आ रहे हैं, उस ढ़ंग की रचना उस समयावधि के लक्षण के अंतर्गत मानी गई है। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोकप्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। इन्हीं दोनों बातों को ध्यान में रखकर रचनाकार ने काल विभागों का नामकरण किया है।

वीरगाथा काल (आदिकाल) :

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास-ग्रंथ को देखते हैं तो पाते हैं कि वे आदिकाल में सबसे ज्यादा जल्दबाजी में हैं। उनके अनुसार इस कालखंड में बस वीर काव्य की कुछ रचनाएं हैं लेकिन यहीं ये बात ध्यान देने वाली है कि पूरे साहित्येतिहास में सबसे ज्यादा प्रवृत्तियां ही आदिकाल में हैं। इस कालखंड में जैन हैं, सिद्ध हैं, गोरखपरम्परा के साथ-साथ तरह-तरह की परम्पराएं तथा सम्प्रदाय हैं तथा प्रेमाख्यायन, सामंत प्रवृत्ति, रासो प्रवृत्ति आदि सब प्रवृत्तियां हैं। आदिकाल से भक्तिकाल को देखते हैं तो वहां उन्होंने निर्गुण तथा सगुण में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को सहजता से विवेचित किया है लेकिन आदिकाल में उनका यह प्रयास नहीं दिखता। सबसे ज्यादा असमंजस्य में अगर शुक्लजी कहीं हैं तो वे आदिकाल में ही हैं। वे सरहपा को तो हिंदी का पहला कवि स्वीकार करते हैं, "सिद्धों में 'सरह' सबसे पुराने अर्थात वि.सं. 690 के हैं। अतः हिंदी काव्यधारा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सांतवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।"[44] लेकिन हिंदी का आविर्भाव अपभ्रंश से मानते वक्त संकोच में हैं। वे सिद्धों की रचनाओं को भी साहित्यिक कोटि की नहीं मानते किन्तु सरहपा के विषय में मौन नजर आते हैं। इतिहास लेखन के लिए स्वयं के बनाए ढ़ांचे का ही वे कहीं-कहीं बचाव करते नजर आते हैं। कालखंडों के नामकरण में भी उन्हें हर कालखंड में दूसरे नाम की आवश्यकता पड़ती है जैसे वीरगाथा काल को उन्हें देशभाषा काव्य का नाम देना पड़ता है तो कहीं आधुनिक काल को गद्य काल भी कहते हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास की सबसे बड़ी समस्या ही यही है कि उसका आरम्भ कब से हुआ। इस समस्या का कारण साहित्य नहीं भाषा है। हिंदी, हिंदी कब हुई? कहाँ से शुरू हुई? तथा इसका जन्म और पूर्वरूप कौन सा है? इस पर सभी आलोचकों के अलग-अलग मत हैं। आचार्य शुक्ल ने, " प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है।"[45] कहा तो है लेकिन वे इसे उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं मानते। उनके अनुसार अपभ्रंश जनहृदय की नहीं अपितु कवियों तथा कविताओं की भाषा रही है। सिद्ध, नाथ तथा जैन और अपभ्रंश की

अधिकतम रचनाओं को वे जिस आधार पर नकारते हैं उसमें सामंतवाद का विरोध भी बराबर करते हैं, "काव्यभाषा में पच्छिमी बोली की प्रधानता का कारण यह है कि कविता राजाश्रय पाकर हुआ करती थी और इधर हजार-बारह सौ वर्ष से राजपूतों की बड़ी-बड़ी राजधानियां राजपूताने, गुजरात, मालवा, दिल्ली आदि में ही रही।"[46] यहाँ शुक्लजी भाषा और काव्य को सिर्फ दरबारों तक ही देखते हैं, जनता या जनहृदय उनको इसमें नजर नहीं आता। शुक्लजी यह भी मानते हैं कि किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं रहा। इन सभी अंतर्विरोधों के बावजूद उन्होंने हिंदी साहित्य की शुरुआत देशभाषा काव्य से ही मानी है। मैनेजर पाण्डेय आचार्य शुक्ल के बारे में लिखते हैं, "जिन्हें आचार्य शुक्ल आदिकाल की फुटकल रचनाएं और रचनाकार कहते हैं, उन्हीं से हिंदी साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ होता है।"[47] क्योंकि जनभाषा में साहित्य के आरम्भ का श्रेय विद्यापति तथा खुसरो को ही है। विद्यापति ने दो भाषाओं तथा प्रवृत्तियों के साथ लेखन किया है जो उन्हें अपभ्रंश, वीरगाथा तथा भक्तिकाल के संधिकाल का महत्वपूर्ण कवि बना देता है। इतना ही नहीं इन फुटकल कवियों के लेखन से साहित्य में आगामी युग की प्रवृत्ति का आभास भी पहले ही हो जाता है। आदिकाल में सिद्धों, नाथों तथा जैनों की रचनाओं की आलोचना उन्होंने की है उसका आधार निम्न जनता की आशाओं-आकांक्षाओं के प्रति उनकी उदासीनता नहीं बल्कि उसकी साधना पद्धति तथा उसके प्रभाव को सामान्य जनता के लिए हितकारी न होना मानते हैं। उनके अनुसार ये रचनाएँ सामान्य जन को गुमराह करती हैं। इसीलिए वे सिद्धों और योगियों की रचनाओं को साहित्यिक कोटि की नहीं मानते क्योंकि उनके आधार पर साधना और योग काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं होती, "ये ही दो बातें दिखाने के लिए इस इतिहास में सिद्धों और योगियों का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।"[48]

अपभ्रंश का साहित्य हिंदी भाषा और साहित्य के लिए एक वृहत्तर प्रारूप निर्मित करता है। जिसमें अलग-अलग धर्मों और मान्यताओं के कवि एक स्थान पर एकत्र हो रहे थे। यहाँ तक राम को जैन कवियों ने जैन-धर्म का मतावलंबी सिद्ध करने का प्रयास किया है। साहित्य की कल्पना शक्ति में बेशुमार इजाफा होता है। अब्दुर्रहमान की उपस्थिति भी इसी अपभ्रंश काव्य में होती है। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि अपभ्रंश की कविता केवल तंत्र-मन्त्र और धर्म-साधना की कविता नहीं है। किसान जीवन, कृषक संस्कृति और लोकजीवन के अनेक आयाम और उपादान इस कविता में पुष्पित-पल्लवित होते हैं जिसका विस्तार हम परवर्ती काव्य में देख सकते हैं। यदि पूर्वाग्रहों को तिलांजलि देकर देखें तो इस कविता में भक्ति आन्दोलन के लोकमंगलकारी प्रवृत्ति के प्रस्थान बिंदु स्पष्ट ही दिखाई देंगे।

पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल) :

भक्तिकाल में कालखंड तथा नामकरण को लेकर इतिहासकारों में ज्यादा बहस नहीं है लेकिन भक्ति के उदय को लेकर सबके अलग-अलग मत हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति के उदय के बारे में लिखा है, "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने से हिंदी जनता के हृदय में गौरव, गर्व, और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे..... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[49] उनके अनुसार धर्म का प्रवाह ज्ञान, कर्म और भक्ति रूपी तीन धाराओं में चलता है। इस मत के प्रतिउत्तर में हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "पर यह बात अत्यंत उपहासास्पद है और यह कहना तो और भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिंदू मंदिरों को नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हिंदू लोग भजन-भाव में जुट गए।"[50] यहाँ द्विवेदी जी ने आचार्य शुक्ल की मान्यता को ख़ारिज करते हुए लिखा है कि 'भक्ति द्राविड़ उपजी लाये रामानंद, प्रकट कियो कबीर ने सप्त द्वीप नव खंड' यानि भक्ति

का उदय वे दक्षिण से मानते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है, "ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"[51] यहाँ असल बात भक्ति के उद्भव की है अर्थात क्या वह वस्तुतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार मुस्लिम अत्याचारों की प्रतिक्रिया और हताश हिंदू जाति की अभिव्यक्ति है। भक्ति का उदय तो दक्षिण में ही हुआ था शायद वे इस बात से परिचित भी थे, "धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारतकाल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराणकाल में हुआ था, कभी कहीं दबती कभी कहीं उभरती किसी प्रकार चली भर आ रही थी।"[52] आचार्य शुक्ल भक्तिकाल के विवेचन में भक्ति के अस्तित्व को काफी पहले से स्वीकार करते हैं, जिससे यह अनुमान लगया जा सकता है कि वे भक्ति की रचनाओं को एकमात्र इस्लाम आक्रमण का हताशा भरा विस्फोट नहीं मानते हैं। भक्ति के सोते को दक्षिण से उत्तर की तरफ धीरे-धीरे आते हुए देखते हैं तथा मुस्लिम आक्रमणों तथा हताश जनता की मनोवृत्ति को भक्ति की रफ्तार को तेज करने का कारण मानते हैं. कहीं न कहीं कुछ प्रतिशत हजारी प्रसाद द्विवेदी भी इस्लामी आक्रमण ने चार आने भक्ति के उन्मेष पर प्रभाव डाला है, ऐसा मानते हैं क्योंकि बारह आना भले ही इन सबके बावजूद वैसा ही रहता जैसा वह चला आ रहा था। भक्तिकाल में इन सब मतभेदों के बावजूद शुक्लजी ने हिंदू तथा मुस्लिम कवियों के बीच अच्छा सामंजस्य स्थापित किया है। निर्गुण संतों कबीर तथा तथा रहीम आदि कवियों की उन्होंने प्रशंसा की है क्योंकि इन कवियों ने भक्ति का वो मार्ग खोजने का प्रयास किया है जो हिंदू व मुस्लिम जनता के लिए सुगम हो। मलिक मुहम्मद जायसी को भी आचार्य शुक्ल तुलसी और सूरदास के समकक्ष हिंदी के महाकवि के रूप में प्रतिष्ठा देते हैं। भक्तिकाल में शुक्लजी की एक मान्यता यह भी है कि वे तुलसीदास को कवि के रूप में नहीं अपितु पूरी परम्परा के रूप में स्थापित कर देते हैं। उनके साहित्येतिहास-ग्रंथ में निर्गुण कवियों के लिए कोई फुटकल खाता नहीं है, जो खाता है भी वह 'भक्तिकाल की फुटकल रचनाएं; सगुण धारा से उल्लेखित है।

भक्तिकाल की फुटकल रचनाओं के बारे में शुक्लजी ने लिखा है कि, "नरहरि और गंग ऐसे सुकवि और तानसेन ऐसे गायक अकबर दरबार की शोभा बढ़ाते थे ।....वीर, श्रृंगार और नीति की कविताओं के आविर्भाव के लिए विस्तृत क्षेत्र फिर खुल गये। जैसा कि आरम्भ काल में दिखाया जा चुका है, फुटकल कविताएं अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त, सवैयों और दोहों में हुआ करती थीं ।"[53] शुक्लजी के फुटकल खाते के अध्ययन के पश्चात् पाते हैं कि हिंदी में वीर, प्रेम, भक्ति, संत तथा सूफी काव्यधाराओं के अतिरिक्त इन्हीं की भांति एक नीतिकाव्य धारा भी है जो काव्य की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण नहीं मानी गई लेकिन उपयोगिता की दृष्टि से विशेष स्थान रखती है। प्रत्येक कवि के यहाँ यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है । कुछ कवि तो मुख्यतः नीति के कवि हैं जैसे रहीम, वृन्द, दीनदयाल, गिरिधर आदि। कुछ कवि मूलतः तो भक्त कवि हैं लेकिन उनके काव्य में नीति के छंद भी काफी मात्रा में हैं जैसे कबीर और तुलसी । इसी तरह के पद्य अधिकतर फुटकल कवियों के काव्य में मिलते हैं । भक्तिकालीन फुटकल कवियों में लालचदास ने 'हरिचरित' नामक पुस्तक में श्री कृष्ण की बाललीलाओं आदि पर लिखा है किन्तु शुक्लजी ने इनका काव्य सामान्य श्रेणी का माना है। महापात्र नरहरि 'अकबर' के सम्पर्क में थे। इनकी 'रुकिमणी मंगल', 'छप्पय नीति', 'कवित्त-संग्रह' नामक तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इन पुस्तकों में 'रुकिमणी मंगल' ही अभी तक मिली है जबकि 'छप्पय नीति' तथा 'कवित्त-संग्रह' का कुछ भाग ही उपलब्ध है बाकी खो गया है। नरहरि के साहित्य में नीति तथा उपदेश की कविताओं का प्रमुख स्थान है। इनकी कविताओं को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि उन्होंने नीति साहित्य की केवल परम्परागत बातों को ही ध्यान में नहीं रखा बल्कि अपने निजी अनुभवों से मिले ज्ञान की बातें भी शामिल की हैं। लेकिन नरहरि में रहीम तथा वृंद जैसे सूक्तित्व की कमी है। इनके नीति काव्य के प्रधान विषय राजा, नारी, मित्र, लोभ, प्रजा, दुर्जन, प्रेम, दान, तथा व्यवहार हैं, "कुलवंत पुरूष कुल विधि तजै, बंधु न माने बंधु हित ।/ संन्यास धारि धन संग्रहै, ये जगत में मूरख विदित । ।"[54] कवि आलम ने सं. 1639-40 में 'माधवनल कामकंदला' नामक प्रेमकहानी दोहा-चौपाई में लिखी जिसमें श्रृंगार का

भाव है। टोडरमल अकबरी दरबार के प्रमुख व्यक्तियों में थे। इन्हें हिंदी कविता में रूचि थी। इन्होंने भी अपने काव्य में नीति तथा उपदेश की बातें कही हैं। टोडरमल के नीति काव्य में काव्य-सौंदर्य तो नहीं है लेकिन तुकबंदी अच्छी है। इनके छंदों में राजा, वेश्या, दान, धर्म, सूम, नारी, पुत्र, धन, क्षत्रिय, ब्राहमण आदि विषयों पर नीति की बातें हैं। टोडरमल की भांति ही कवि बीरबल की भी कोई पुस्तक नहीं मिलती लेकिन इनके दो सौ छंद हमें मिले हैं जिसमें नीति और उपदेश के भी छंद हैं। शुक्लजी ने इनके बारे में कहा है कि बीरबल ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे जो कवियों का बड़ी ही उदारता के साथ मान-सम्मान करते थे। बीरबल का एक पद्य काफी प्रसिद्ध है, "उत्तम पद्य कवि गंग के उपमा में बलबीर।/ केशव अर्थ गंभीरता सूर तीन गुनधीर।।"[55] कवि बीरबल के काव्य में भी चिंता, मूर्ख, पेट, भाग्य, मन, मित्र, विनय, काल, आदि प्रधान विषय हैं। गंग कवि को शुक्लजी ने अपने समय का प्रधान कवि माना है। गंग के कुल प्राप्त छंदों की संख्या लगभग चार सौ के करीब है जिसमें उन्होंने भक्ति, नीति, वीर तथा श्रृंगार रस के सवैये और कवित्त आदि लिखे हैं। उनकी श्रेष्ठता के प्रमाण हमें इस कथन से मिल जाते हैं, "तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।"[56]

रहीम कई भाषाओं तथा विद्याओं में पारंगत थे। इनका हृदय तथा स्वभाव बहुत ही सरल, सरस तथा दयापूर्ण था। गोस्वामी तुलसीदास से इनका परिचय तथा स्नेह था। बहुत सारी जनश्रुतियां रहीम की आज भी लोगों की जुबान पर हैं। शुक्लजी रहीम का भाषा पर उतना ही अधिकार पाते हैं जितना तुलसीदास का है। वे लिखते हैं, "रहीम के दोहे वृंद और गिरिधर के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं। उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झांक रहा है।"[57] कवि जमाल ने भी अपनी रचनाओं 'जमाल पच्चीसी', 'भक्तमाल की टिप्पणी' में नीति तथा श्रृंगार के दोहे कहे हैं। इनके यहाँ खुसरो की तरह कुछ पहेलियाँ भी देखने को मिलती हैं। कवि सेनापति को शुक्लजी ने बड़े ही भावुक व निपुण कवि कहा है। उन्होंने सेनापति के काव्य में श्रृंगार को प्रधान माना है। 'कवित्तरत्नाकर' में कवि ने

स्थान-स्थान पर 'सियापति', 'राम' आदि नामों का स्मरण किया है जिसमें इनके भक्तिप्रेरित उद्गार काफी चमत्कारपूर्ण तथा अनूठे हैं। भक्तिकालीन समस्त फुटकल कवियों के यहाँ इसी तरह या तो नीति के पद्य ज्यादा हैं या वीर तथा श्रृंगार के। ऐसा नहीं है कि कवि ने मात्र एक ही प्रवृत्ति से काव्य सृजन किया है जबकि विभिन्नताओं के बावजूद फुटकल कवियों में मुख्य प्रवृत्ति से गौण प्रवृत्ति का प्रवाह ज्यादा है।

उत्तर-मध्यकाल (रीतिकाल) :

साहित्य के उत्तर-मध्यकाल को रीतिकाल कहा गया है। आचार्य शुक्ल के अनुसार रीतिकाल में पहुँचते-पहुँचते हिंदी काव्य प्रौढ़ता को पहुँच गया था। रीतिकालीन कविता में वे कुछ कमियां पाते हैं, "रीतिकाल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई।"[58] उन्होंने रीतिकालीन कवियों के सीमित भाव क्षेत्र, श्रृंगारप्रियता तथा साहित्यिक सुरुचि के अभाव की चर्चा करते हुए लिखा है, 'इसका कारण जनता की रूचि नहीं; आश्रयदाता राजा महाराजाओं की रूचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।' आचार्य शुक्ल ने यहाँ रीतिकालीन काव्य का वर्ग-आधार बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कर दिया है। जिसे रीतिकालीन कविता कहा जाता है वह एक दरबारी कविता है जिसकी परम्परा संस्कृत से चली आ रही थी। रीतिकाल के बारे में शुक्ल जी कहते हैं, "रीतिकाल के बारे में दो बातें और कहनी हैं। इस काल के कवियों के परिचयात्मक वृत्तों की छानबीन में मैं अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ हूँ, क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढ़ांचा खड़ा करना था न कि कवि कीर्तन करना। अतः कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्राय: 'मिश्रबंधु विनोद' से ही लिए हैं.....तो इसमें मेरी कोई बड़ी उद्देश्य हानि नहीं हुई।"[59] कालखंड के नामकरण पर भी उन्होंने स्पष्ट लिखा है, वास्तव में श्रृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृंगारकाल कहे तो कह सकता है। श्रृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पंहुचा

दिया था। इसका कारण जनता की रूचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।"[60]

रीतिकाल के कवियों ने अपनी काव्य-सामग्री राजदरबारों तथा वहां के वातावरण से ग्रहण की है। भक्त कवियों ने रानियों का वर्णन किया है तो साधारण स्त्री के रूप में किन्तु दरबारी कवियों ने साधारण स्त्रियों का वर्णन भी रनिवास की रानियाँ बनाकर किया है। दरबारी कवियों के श्रृंगार काव्य में आचार्य शुक्ल को सबसे बड़ा दोष उसकी कृत्रिमता दिखाई देता है। उन्होंने तुलसीदास के प्रेम-चित्रण से इन कवियों के श्रृंगार-वर्णन की भिन्नता दिखाते हुए नायिकाभेद वाले कवियों द्वारा लोकमर्यादा का उल्लंघन बतलाया है। उन्हें ऐसे कवियों से अगर कोई शिकायत है तो यही है कि ये मर्यादा का ध्यान नहीं रखते। सूफी कवियों तथा संतों आदि के प्रेम को दरबारी कवियों से भिन्न करते हुए वे जायसी की भूमिका में लिखते हैं 'ऐसा प्रेम प्रिय को छोड़ किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं होता। न उसे सुराही चाहिए, न प्याला, न गुलगुली गिलमें, न गलीचा।' वे रीतिग्रंथों की परम्परा चिंतामणि से मानते हैं। केशवदास को लेकर उनकी मनःस्थिति असमंजस्य में है। केशव के बारे में उन्होंने कहा है, "रसनिरूपण और अलंकार निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदास जी ने काव्य के सब अंग का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः 50 वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।"[61] वे केशव को चमत्कारवादी कवि कहते हैं और उनके काव्य (कविप्रिया) में रस, रीति, अलंकार आदि का व्यवहार भी मानते हैं। दूसरी तरफ केशवदास के काव्य में मौलिकता पर लिखते हैं कि, "केशवदास के वर्णन में यह दिखाया जा चुका है कि उन्होंने सारी सामग्री कहाँ-कहाँ से ली। आगे होने वाले लक्षण ग्रंथकार कवियों ने भी सारे लक्षण और भेद संस्कृत की पुस्तकों से लेकर लिखे हैं जो कहीं-कहीं अपर्याप्त

हैं। अपनी ओर से उन्होंने न तो अलंकार क्षेत्र में कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस क्षेत्र में।"[62] इस तरह की उनकी व्याख्या केशवदास के काव्य पर व्यंग्य दर्शाती हैं।

आचार्य शुक्ल के रीतिकाल पर बच्चन सिंह का अलग मत है, "रीतिकाल वस्तु, शैली, छंद रूपविधान में भक्तिकाल से भिन्न भूमिका में खड़ा है। यह आप में स्वतंत्र काल है। इसे उत्तर-मध्यकाल कहना गणितीय भ्रमोत्पादन है। शुक्लजी इसे दो भागों में बाँटते हैं- रीति ग्रंथकार कवि और अन्य कवि। अन्य कवि एक गोल शब्द है। इस कोटि में अर्थ की दृष्टि से हलके कवि आयेंगे। घनआनंद को शुक्लजी रीतिकाल के सर्वोत्कृष्ट कवियों में मानते हैं। फिर उन्हें अन्य कवियों की श्रेणी में क्यों बैठाया जाता है? यहाँ पर उनकी इतिहासदृष्टि में खोट दिखाई पड़ती है।"[63] यहाँ बच्चन सिंह का मत सही है क्योंकि आचार्य शुक्ल की पद्धति के कारण रीतिकाल के बहुत से महत्वपूर्ण कवि फुटकल खाते (अन्य कवि) में चले जाते हैं। इन कवियों की विवेचना में भी शुक्लजी ने इन्हें मुख्य कवियों से ज्यादा पृष्ठ तथा जगह दी है। बच्चन सिंह इन्हीं कवियों को लेकर आगे कहते हैं, "रीतिमुक्त होकर कोई रीतिकालीन कैसे होगा? रीतिबद्ध और रीतिमुक्त को मैंने उलट दिया है यानी रीतिबद्ध को बद्धरीति और रीतिमुक्त को मुक्तरीति कहा है। घनानंद, ठाकुर, बोधा आदि रीति से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। उनमें रीतितत्त्व है, पर उसकी बद्धता नहीं है।"[64] आचार्य शुक्ल यहाँ स्वयं के बनाये हुए मापदंडों का स्वयं बचाव करते नजर आते हैं जो तार्किक नहीं लगता।

रीतिकाल की समयसीमा को लेकर साहित्येतिहासकारों के अलग-अलग मत हैं। कुछ आलोचक केशवदास से इस परम्परा का आरम्भ मानते हैं तो कुछ चिंतामणि से। रीतिकाव्य के लक्षण भक्तिकाल के अंत तक दिखाई देने लगे थे। कृपाराम की 'हिततरंगिनी' (सं. 1598), सूरदास की साहित्य लहरी (सं. 1607), नन्ददास की 'रस मंजरी' (सं. 1608) तथा मोहनलाल मिश्र ने 'श्रृंगार सागर' (सं.1616) आदि रचनाओं में इस परम्परा के शुरुआती लक्षण देखे जा सकते हैं। लेकिन इस परम्परा को ठोस

आधार केशवदास से मिला। केशवदास की 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' आदि रचनाओं ने रीतिकाल को मजबूत बनाया। इनकी प्रसिद्ध रचना 'रामचंद्रिका' को भी भक्तिपरक के साथ-साथ रीतिकाल में ही आलोचकों ने माना है। शुक्ल जी की कालावधि सम्बंधी इस विसंगति पर डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित लिखतें हैं, "लेकिन शुक्ल जी की स्थापना पर गंभीरता से विचार करने पर कुछ असंगतियां दिखाई पड़ती हैं। शुक्ल जी ने रीतिकाल का आरम्भ सं. 1700 से अर्थात सन 1643 ई. से माना है, जबकि चिंतामणि कृत 'रसविलास' 1643 ई. से दस वर्ष पूर्व की रचना है।"[65] केशवदास के प्रति शुक्ल जी की नाराजगी को रामविलास शर्मा बतलाते हैं, "केशव से उन्हें कई तरह की शिकायतें हैं। बुढ़ापे में भी उनका नायिकाभेदी दृष्टीकोण दूर न हुआ, यह दूसरी है। इस चमत्कारवाद को शुक्ल जी काव्य का बहुत बड़ा दोष मानते हैं।"[66]

रीतिकाल में सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों से साम्राज्य का ढ़ांचा टूट रहा था उसी तरह से बंधा हुआ कविता का ढ़ांचा भी टूटने लगा था। रीतिमुक्त की स्वच्छंद धारा में घनआनंद, बोधा, आलम, ठाकुर आदि कवि काव्य सृजन कर रहे थे। स्वच्छंद काव्यधारा के कवि दरबारी होते हुए भी दरबारी नहीं थे। अपने स्वच्छंद लेखन के कारण ही घनआनंद को दरबार छोड़ना पड़ा। लक्षण के बन्धनों में बंधना इनकी प्रकृति तथा प्रवृत्ति के विरुद्ध था। रीतिबद्ध काव्य पर व्यंग्य करते हुए ठाकुर ने लिखा है कि कविता करना लोगों ने खेल समझ लिया है-

डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच

लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो हैं.

रीतिकाल के अंतिम समयावधि में कविता की अतिशय रीतिबद्धता देखकर ठाकुर ने उनकी कविताओं को ढेला से उपमा दी थी। जिस प्रकार रीतिबद्ध कवियों का प्रेम सामान्यतः क्रीड़ापरक था वैसे ही

स्वच्छंद कवियों का प्रेम, पीड़ापरक। इन कवियों के साथ-साथ आचार्य शुक्ल 'ज्ञानोपदेशकों' के साथ भी उचित न्याय नहीं कर पाए. साहित्य को जहाँ इन्होंने जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब कहा है, वहीं जन मानस में बसे घाघ, भड्डरी, जैसे कवियों को कवि मानने से ही इंकार कर दिया। ऐसे कवियों को इन्होंने सूक्तिकार कहा है। इन सभी कवियों को 'अन्य कवि' की श्रेणी में रखना भी तार्किक नहीं लगता तथा इनके विवेचन में भी आचार्य शुक्ल के अनेक अन्तर्विरोध नजर आते हैं।

रीतिकालीन अन्य कवियों में शुक्लजी ने अनेक श्रेणियां बना दी हैं। रीतिमुक्त कवि इस खाते में हैं, सूक्तिकार, ज्ञानोपदेशक, भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद वाले कवि आदि को वर्गों में विभक्त कर विवेचन-विश्लेषण किया है। घनानंद आदि के सम्बन्ध में शुक्लजी का मत है कि इन्हें जो जब सूझा उसी भाव की कविता लिख दी। पद्य तो इनके श्रृंगार के हैं किन्तु घनानंद के यहाँ कोई बंधन नहीं है। शुक्लजी ने घनानंद को प्रेमोन्मत कवि कहा है जिसके यहाँ लक्षणबद्धता नहीं मिलती। वृंद को शुक्लजी सूक्तिकर मानते हैं। इन्होंने एक दर्जन ग्रंथ लिखे जिसमें 'वृंदसतसई' प्रधान ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ नीति-काव्य से सम्बंधित प्रसिद्ध ग्रन्थों में से एक है। इनके काव्य में धैर्य, काम, समय, उपकार, गुण, प्रेम, सत्य, संग, प्रकृति, मन, सुख-दुःख, बल, स्थान, धन, कुल, राजा, स्वामी, सेवक, मित्र, शत्रु, ज्ञानी, मूर्ख, अतिथि, दया, नारी, क्षमा, आदि प्रधान विषय हैं। तुलसीदास के छंदों की ही भांति वृंद के बहुत से दोहे हिंदी जनता में आज भी प्रचलित हैं। नीतिकारों की श्रेणी में आगे बैताल कवि हैं। इन्होंने वृंद व रहीम की तरह अलंकारों द्वारा अपने काव्य में आकर्षण लाने का प्रयास नहीं किया तथापि इनमें अनूठेपन का अभाव नहीं है। बैताल के हर छंद में 'मरै', 'जीभि', 'मर्द', 'चुप्प', 'चंचल' तथा 'सूनो' आदि किसी न किसी शब्द की आवृत्ति मिलती है। इनके काव्य में नीति के प्रमुख विषय ज्ञान, धन, आदर, दुर्जन, सज्जन, बुद्धि, कविता, पुत्र, राजा, मर्द, स्त्री, पंडित आदि हैं। इसी तरह के संदर्भ में शुक्लजी लिखते हैं, "इन सब बातों के विचार से ये कोरे 'पद्यकार' ही कहे जा सकते हैं; सूक्तिकर भी नहीं। वृंद कवि में और

इनमें यही अंतर है।"[67] कुछ किवदंतियों के अनुसार गिरिधर तथा उनकी पत्नी द्वारा रचित लगभग साढ़े चार सौ नीति की कुण्डलियाँ प्राप्त हुई हैं। इनके नीतिकाव्य में भी पिता, पुत्र, युग, नारी, गृहिणी, यश, चिंता, बैर, सत्य, संग, विश्वास, शत्रु, गुण, धन, राजा, भाग्य, दान, मन, साधू, हुक्का, लाठी, मूर्ख तथा ईश्वर आदि प्रमुख विषय हैं। कवि दीनदयाल गिरि के बारे में आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि, "इनका 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' हिंदी साहित्य में एक अनमोल वस्तु है।"[68] इनकी 'अनुरागबाग' पुस्तक में श्री कृष्ण की विविध लीलाओं पर कवित्त हैं, 'दृष्टांत तरंगिणी' नामक पुस्तक में नीति से सम्बंधित दोहे हैं, 'विश्वनाथ नवरत्न' में भगवन शिव की स्तुति है। इन्होंने बादल, नदी, तालाब, कमल, भ्रमर, गुलाब, शुक, मातंग, ब्राह्मण, माली, कुलाल, रजक, ग्वालिनी, तमोलिनी, आदि पर अपनी पुस्तक 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' में लिखा है। कवि बोधा के बारे में आचार्य शुक्ल का मत है कि, "प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होंने बहुत से पद्य कहे हैं। 'प्रेम की पीर' की व्यंजना भी इन्होंने बड़े मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है।"[69] इनके स्वभाव में फक्कड़पन था तथा इन्होंने रीतिग्रंथ न लिखकर अपनी मर्जी से फुटकल पद्यों की रचना की। इसी तरह रीतिकालीन अन्य कवियों में अधिकतर कवि ज्ञानोपदेशक तथा नीतिकार हैं। रीतिमुक्त कवियों को भी शुक्लजी ने इस खाते में रखा है जिसमें रसखान, घनानंद, आलम, ठाकुर आदि कवि हैं।

आधुनिक काल (गद्य काल) :

हिंदी गद्य साहित्य के विकास का प्रश्न हिंदी भाषा के विकास, हिंदी उर्दू के आपसी सम्बन्ध और भाषा के विकास में विभिन्न वर्गों की भूमिका आदि की समस्याओं के साथ जुड़ा है। आचार्य शुक्ल ने हिंदी भाषा और हिंदी गद्य के विकास को उस समाज के परिपेक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया है जिसकी भाषा हिंदी है। इतिहास भाषा का हो चाहे साहित्य का, इसे समाज से अलग करके समझना कठिन है। शुक्लजी ने हिंदी भाषा तथा गद्य के विकास को समझने के लिए बोलचाल की भाषा और जनता के

व्यवहार की भाषा पर ध्यान दिया। उनका मानना है कि साहित्य की भाषा अब तक ब्रजभाषा ही रही तथा थोड़ा बहुत गद्य भी मिलता है वो भी इसी भाषा में। वे उदाहरण के लिए बिट्ठलनाथ की श्रृंगाररस मंडन तथा नाभादास की 'अष्टयाम' आदि रचनाओं का जिक्र करते हैं। खड़ी बोली के बारे में शुक्लजी लिखते हैं, "मुग़ल साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुंची।"[70] उनके अनुसार ज्यों-ज्यों दिल्ली, आगरा, आदि शहरों की समृद्धि नष्ट होती गई, वैसे ही यहाँ के शायर, हिंदू व्यापारी जातियां पूर्व की तरफ गई जो उनके साथ खड़ी बोली रूपी भाषा तथा संस्कृति साथ लेकर चली। वे उन आलोचकों के भ्रम पर कहते हैं जो मुसलमानों को खड़ी बोली के अस्तित्व का कारण मानते हैं कि, "अन्तः कुछ लोगों का कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक गद्य की भाषा अरबी-फ़ारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। इस भ्रम का कारण यही है कि देश में परम्परागत साहित्य की–जो संवत 1900 के पूर्व तक पद्यमय ही रहा – भाषा ब्रज भाषा ही रही और खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रान्तों की बोलियाँ। साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार नहीं हुआ।"[71] उन्होंने हिंदी भाषा के जातीय स्वरूप को पहचानकर हिंदी में ब्रजभाषा, अवधि, मैथिली, खड़ीबोली तथा राजस्थानी के साहित्य को तो शामिल किया किन्तु उर्दू साहित्य को हिंदी साहित्य में नहीं लिया। इसके पीछे शुक्लजी के अन्तर्विरोध को दिखाते हुए मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "हिंदी साहित्य के इतिहास में उर्दू साहित्य को शामिल न करने के पीछे एक तो उस समय का हिंदी-उर्दू विवाद है और दूसरे, हिंदी जाति के निर्माण और विकास की अधूरी समझ। हिंदी और उर्दू के सम्बन्ध के बारे में आचार्य शुक्ल के विचार काफी उलझे हुए, तद्युगीन भाषाविवाद से प्रभावित और अन्तर्विरोध से भरे हुए हैं। इस संदर्भ में शुक्लजी के विचारों की सीमाओं पर विचार करते समय उस काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों और विचारधारात्मक संघर्षों पर भी ध्यान देना चाहिए।"[72]

छायावाद को शुक्लजी ने दो अर्थों में समझाना चाहा है, पहला रहस्यवाद के अर्थ में तथा दूसरा काव्यशैली तथा पद्धतिविशेष के व्यापक अर्थ में। डॉ. शुकदेव धूमिल की कविता पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल के बारे में लिखते हैं, 'क्या वजह है कि लोकमंगलवाद के प्रचारक आचार्य रामचंद्र शुक्ल तीन धार्मिक कवियों तुलसीदास, सूरदास और जायसी में प्रेम व्यंजना और भावुकता का महत्त्व देखते हैं? क्या धार्मिक कवियों में लक्ष्य केवल प्रेम व्यंजना और भावुकता होता है अथवा उनकी लिए धर्म और अराध्य-प्रमुखता महत्वपूर्ण है? क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि छायावादयुगीन आलोचक रामचंद्र शुक्ल भक्तिकाल की कविता में सूरदास, तुलसीदास, जायसी के साथ घनआनंद को लेते हुए छायावाद की ही खोज कर रहे थे ? इस अपने समकालीन छायावाद का विरोध कर रहे थे, उधर ईर्ष्या, द्वेष, करुणा, उत्साह जैसे मनोभावों पर खुद निबंध लिख रहे थे और इन्हीं मनोभावों पर लिखित प्रसाद के 'कामना' नाटक और अन्यतम काव्य 'कामायनी' को अस्वीकार कर देने की तैयारी भी कर रहे थे। शुक्लजी वस्तुतः छायावादी थे, उनके सम्पूर्ण लेखन में छायावादी दृष्टि का ही विस्तार है। लेकिन वे छायावाद के प्रबल विरोधी भी थे।' छायावाद को लेकर आचार्य शुक्ल के विचारों में द्वैत या अन्तर्विरोध है। छायावाद कवियों के मस्तिष्क की उपज था तथा सामयिक आवश्यकता भी। नामवर सिंह भी अपनी पुस्तक छायावाद में यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि छायावाद शैली की दृष्टि से परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है। आचार्य शुक्ल के मंतव्य के आधार पर ही उन्होंने ये सिद्ध करने का प्रयास किया कि भाव की दृष्टि से भी छायावाद परम्परा की ही कड़ी है, जिसका बंगाल या यूरोप से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आधुनिक काल की 'कालखंड पुरानी धारा' के अध्ययन में हमें फुटकल जैसी ही वृत्ति दिखाई देती है। यहाँ उन्होंने ब्रज भाषा काव्य परम्परा में कवि सेवक, सरदार, राजा लक्ष्मण सिंह के साथ नौ कवियों का जिक्र किया है। इसी प्रकरण में उन्होंने, "पुरानी धारा के अन्य कवि"[73] नामक खाते में उन कवियों का

वर्णन किया है जिन्होंने एक तरफ तो हिंदी साहित्य की नयी गति के प्रवर्तन में सहयोग किया तथा दूसरी ओर पुरानी धारा से भी सम्बन्ध बनाए रखा। इस खाते में उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला सीताराम, पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि का वर्णन किया है।

प्रस्तुत अध्याय में फुटकल की अवधारणा तथा ऐसे ही अन्य खातों का हमें साहित्येतिहास लेखन में पता लगता है। आचार्य शुक्ल से पहले लगभग सभी साहित्येतिहासकारों ने अपनी सुविधानुसार इस तरह के खातों का निर्माण किया है। जो जाति, गोत्र, उपनाम सम्बन्धी शैली हमें शुक्लजी के यहाँ मिलती है वैसी ही शैली का प्रयोग पूर्ववर्ती लेखकों के यहाँ हुआ है जैसे तासी, शिवसिंह सेंगर तथा साहित्येतिहास लेखन में सहायक ग्रन्थों(252 वैष्णव की वार्ता) आदि में भी यह देखने को मिलता है। इस अध्याय में आचार्य शुक्ल की तर्क और विचार पद्धति का भी उल्लेख किया है तथा साहित्य में उनकी स्थापनाओं को दिखाने का प्रयास किया गया है। साहित्येतिहास के इतर विज्ञान तथा निबंध से सम्बंधित भी उनके मतों की विवेचना की गई है। विधेयवादी पद्धति और आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के मतों की समीक्षा भी इस अध्याय में की है। हिंदी साहित्येतिहास में उनके काल विभाजन के आधार, अपभ्रंश पर उनका मत, मुख्य प्रवृत्ति से इतर गौण प्रवृत्तियों के काव्य तथा सिद्धों और योगियों के बारे में उनके मत को भी बतलाया गया है। प्रत्येक कालखंड में उनकी स्थापनाओं की समीक्षा तथा उनपर अन्य विद्वानों के मतों की भी व्याख्या की गयी है। अन्य कालखंडों की भांति ही आधुनिक काल में भी शुक्लजी फुटकल सम्बन्धी शैली देखने को मिलती है।

संदर्भ :

1. वार्ष्णेय, डॉ. लक्ष्मीसागर; हिन्दुई साहित्य का इतिहास; हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद; पृ.-32
2. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ.- 3
3. शर्मा, नलिन विलोचन; साहित्य का इतिहास-दर्शन; बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद पटना; पृ.- 80
4. सरस्वती; दिसम्बर 1901; मि.बं.वि.; पृ.- 3
5. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; नागरीप्रचारिणी सभा वाराणसी; पृ.-3
6. वर्मा, रामकुमार; आचार्य रामचंद्र शुक्ल: एक दृष्टि; हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद; संस्करण 1986; पृ.- 133
7. शुक्ल, रामचंद्र; चिंतामणि; नागरीप्रचारणी सभा वाराणसी; 2012; पृ.- 126
8. मिश्र, शिवकुमार; हिंदी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल; वाणी प्रकाशन दिल्ली; पृ.- 89
9. तिवारी, रामचंद्र; साहित्यमनीषी आचार्य रामचंद्र शुक्ल; उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ; पृ.- 41
10. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ.- 6
11. तिवारी, रामचंद्र; साहित्यमनीषी आचार्य रामचंद्र शुक्ल; उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ; पृ.42
12. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ.- 3
13. तिवारी, रामचंद्र; साहित्यमनीषी आचार्य रामचंद्र शुक्ल; उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ; पृ.- 44
14. वर्मा, रामकुमार; आचार्य रामचंद्र शुक्ल: एक दृष्टि; हिदुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद; पृ.- 32
15. तिवारी, रामचंद्र; साहित्यमनीषी आचार्य रामचंद्र शुक्ल; उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ; पृ.- 104
16. शुक्ल; रामचंद्र; चिंतामणि; नागरीप्रचारिणी सभा वाराणसी; पृ.- 124
17. वही; पृ.- 124
18. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; चिंतामणि (प्रथम भाग); लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; पृ.-3
19. वही; पृ.-6
20. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; चिंतामणि; नागरीप्रचारिणी सभा वाराणसी; पृ.-3
21. वही; पृ.- 10
22. वही; पृ.- 13

23. वही; पृ.- 15

24. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; चिंतामणि (प्रथम भाग); लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; पृ.- 26

25. वही; पृ.- 40

26. वही; पृ.- 82

27. वही; पृ.-127

28. वही; पृ.- 134

29. वही; पृ.-178

30. सिंह, नामवर; त्रिपाठी, आशीष; रामचंद्र शुक्ल रचनावली, खंड-6; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; पृ.-229

31. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; भ्रमरगीतसार; नागरीप्रचारिणी सभा, काशी; पृ- 3

32. सिंह, नामवर; त्रिपाठी, आशीष; रामचंद्र शुक्ल रचनावली, खंड-6; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; पृ.-18

33. डॉ. नगेंद्र (सं.); विश्व साहित्य शास्त्र; नागरीप्रचारिणी सभा, काशी; पृ.- 79

34. शर्मा, नलिन विलोचन; साहित्य का इतिहास-दर्शन; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना; पृ.-89

35. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.- 110

36. वही; पृ.-110

37. वही; पृ.- 110-111

38. मिश्र, शिवकुमार; हिंदी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल; वाणी प्रकाशन दिल्ली; पृ.-50

39. शर्मा, नलिन विलोचन; साहित्य का इतिहास-दर्शन; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना; पृ.- 52

40. वही; पृ.- 53

41. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; जायसी ग्रंथावली; नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ.- 127

42. मिश्रबंधु; मिश्रबंधु विनोद (प्रथम भाग); वंशीधर प्रेस इलाहाबाद; पृ.- 334

43. वही; पृ.- 338

44. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ.-27

45. वही; पृ.- 17

46. सिंह, नामवर; त्रिपाठी, आशीष; रामचंद्र शुक्ल रचनावली, खंड-6; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; पृ.-231

47. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.-98

48. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ.-28

49. वही; पृ.-53

50. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; हिंदी साहित्य की भूमिका; राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पृ.-52-53

51. वही; पृ.- 16

52. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ.-53

53. वही; पृ.- 141-142

54. तिवारी, डॉ भोलानाथ; हिंदी नीति-काव्य-धारा; किताब महल इलाहबाद; प्रथम संस्करण: 1984; पृ.-23

55. वही; पृ.- 31

56. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ.- 146

57. वही; पृ.- 155

58. वही; पृ.- 167

59. वही; पृ.- 6

60. वही; पृ.- 171

61. वही; पृ.- 166

62. वही; पृ.- 167

63. सिंह, बच्चन; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास; राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली; पृ.- भूमिका ix

64. वही; पृ.- भूमिका ix

65. दीक्षित, प्रो. सूर्यप्रसाद; हिंदी साहित्येतिहास की भूमिका (भाग-2); उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ; पृ.-203

66. शर्मा, रामविलास; आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना; राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली; पृ.- 115

67. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ. 246

68. वही; पृ.- 269

69. वही; पृ.- 255

70. वही; पृ.- 279

71. वही; पृ.- 279

72. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.- 99

73. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन नयी दिल्ली; पृ.- 386